

# Purusharthchatushtaya ki vivechna

## पुरुषार्थचतुष्टय की विवेचना

Dr.Ranjan kumar pandey

**डा० रंजन कुमार पाण्डेय**

सहायक प्रोफेसर (संस्कृत)

पं० तारकेश्वर ब्रजनन्दन शारदा संस्कृत महाविद्यालय  
कोचस, रोहतास (बिहार)

मनीषियों ने मनुष्य जीव को सफल, सुनियोजित, सामंजस्यपूर्ण और व्यवस्थित करने हेतु पुरुषार्थ रूप मूल्य की योजना की है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से पुरुषार्थ दो शब्दों से मिलकर बना है – 'पुरुष' और 'अर्थ'। पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति है, 'पुरी शेते इति पुरुषः' अर्थात् जो इस पुर (शरीर) में सोया है उस चैतन्यांश आत्मा को पुरुष कहते हैं। 'अर्थ' की व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'यतः सर्वप्रयोजन सिद्धिःस अर्थः' अर्थ मनुष्य के भोग, आरोग्य और धर्म का मुख्य साधन है। अर्थ का तात्पर्य अभिलषित वस्तु से भी लगाया जाता है, अतः काम कहा गया है "अर्थ्यते प्राप्यर्थे सर्वैः इति अर्थः" अर्थात् जिसे प्राप्त करने की अभिलाषा सब करते हैं उसे अर्थ कहते हैं। फलतः पुरुषार्थ की व्युत्पत्ति स्पष्ट हो जाती है – "पुरुषाणाम् अर्थः पुरुषार्थः" अथवा "पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः" अतः पुरुष जिस फल की इच्छा करे वह पुरुषार्थ है। भारतीय जीवन दर्शन में चार आदर्श या लक्ष्य माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। इसी आधार पर पुरुषार्थ चतुष्टयों का वर्गीकरण किया गया है। 1. धर्म, 2. अर्थ, 3. काम, और 4. मोक्ष

**धर्म**— भारतीय दर्शन में धर्म प्राथमिक रूप से एक नैतिक अवधारणा है, अतः इसे पुरुषार्थ चतुष्टय में प्रथम स्थान दिया गया है। पूर्ण पुरुष की संतुष्टि में अर्थ व काम का वृहत् महत्त्व होता है, परन्तु धर्म का आधार पुरुषार्थ को संपूर्ण बना देता

है। धर्म के कारण नियंत्रित होने से पुरुषार्थ में अर्थ व काम एक समग्रता में रहते हैं। अतः धर्म मानवीय स्वभाव को नियमित एवं नियंत्रित करने वाला एक सृजनात्मक आधार है। इसकी व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'धारण करना।' "धर्मः ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः, धरति धारयति व लोकम् इति धर्मः, ध्रियते यः सधर्मः" इन व्युत्पत्तिक परिभाषाओं में धर्म धारण करने के अर्थ में ही प्रयुक्त है। वायुपुराण और महर्षि कपिल ने मनुष्य की उन्नति और अवनति को धर्म और अधर्म का फल बतलाया है। यथा –

धारणाद् धृतिरित्यर्थाद् धातोर्धर्मः प्रकीर्तितः।

आधारणेऽमहत्त्वे च, अधर्म इति चोच्यते ॥<sup>1</sup>

महर्षि कपिल ने लिखा है – धर्मे गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण।<sup>2</sup>

धर्म का लक्षण एवं धर्म में प्रमाण से प्रत्येक वस्तु की सिद्धि होती है। महर्षि कणाद् ने धर्म से उत्पन्न होने वाले फल पर दृष्टि रखते हुए वैशेषिक दर्शन में लिखा है—'यतोऽभ्युदयनि श्रेयसिद्धिः स धर्मः।' महर्षि जैमिनी ने धर्म के प्रमाण और फल दोनों पर दृष्टि रखते हुए उसका लक्षण किया है – 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।'<sup>3</sup>

महर्षि व्यास का मत है – 'ध्रियते अनेन इति धर्मः।' धर्म दो प्रकार का होता है— 1. सिद्ध और 2. असिद्ध।

धर्म की महिमा का वर्णन करते हुए भगवान् शंकराचार्य ने अपने गीताभाष्य के उपोद्घात में लिखा है कि –

नारायणः परोऽव्यक्ताद् अण्डमव्यक्तसंभवम्।

अण्डस्यान्तस्त्वमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी।

धर्म और अधर्म अर्थात् पुण्य और पाप इन दोनों का सम्मिलित नाम है अदृष्टा। कहा भी गया है कि 'न दृश्यते इति अदृष्टम्।' धर्म ही जगत् का आधार

है। प्रत्येक व्यक्ति के निःश्रेयस और अभ्युदय दोनों तरह की उन्नति धर्म से ही संभव है। धर्म ही इस विश्व का आधार है। श्रुति कहती है—

“धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा  
लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।  
धर्मेण पापमपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्।  
तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति।”<sup>4</sup>

सम्पूर्ण जगत् का आधार धर्म है। समस्त प्रजा धार्मिक के पास, अपने-अपने संशयों को निवृत्त करने के लिए जाती है। धर्म से ही पाप की निवृत्ति होती है। इसलिए विश्व में सबसे श्रेष्ठ तत्त्व धर्म है। चाणक्य के अनुसार धर्म है— ‘धर्मेण धार्यते लोकः’<sup>5</sup> धर्म से विपरीत फल देने वाला अधर्म है। अधर्म को पाप या पातक भी कहते हैं। धर्म और अधर्म का संयुक्त नाम है ‘अदृष्ट’। मनुष्य के चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न हो सकने के कारण धर्म और अधर्म को ‘अदृष्ट’ कहते हैं— न दृश्यते, इति अदृष्टम्। ‘सुकृत्’ और ‘दृष्कृत्’ भी ‘धर्म’ और अधर्म के ही नाम हैं। धर्म से ही योग क्षेम होता है। संसार में जितने सुख विद्यमान हैं उन सबका स्रोत धर्म ही है। महर्षि चाणक्य ने कहा है— ‘सुखस्य मूलं धर्मः।’<sup>6</sup>

जैन सम्प्रदाय के आचार्य श्री समन्त भद्र ने धर्म का यह लक्षण बतलाया है कि— ‘जो प्राणियों के संसार के समस्त दुःखों को हटाकर उन्हें उत्तम सुख में, आनन्दधाम में पहुंचा देता है — उसे धर्म कहते हैं, यथा —

देशयानि समीचीनं धर्म कर्म—निबर्हणम्।

संसार—दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे पदे।।

महापुराण में वर्णित आता है —

स धर्मो विनीपातेभ्यो यस्मात् सन्धारयेन्नरम् ।

धत्ते नाभयुदयस्थाने निरूमाया—सुखोदये ।।<sup>7</sup>

धर्म शब्द की व्युत्पत्ति कई तरह की है— 1. धनानि स्रोति इति धर्मः, 2. वर्षति अभीष्टान् कामान् इति वृषः, 3. धारयते लोकम् इति धर्मः, ध्रियते लोकोऽनेन इति धर्मः, धरति लोकम् इति वा धर्मः । महाभारत में कहा है—

धनानि स्रोति धर्मो धारणाद् वेति निश्चयः ।

अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः ।।

धर्म का स्वभाव प्रेरणास्वरूप एवं निर्देशात्मक है। विभिन्न कालों में और भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्य में धर्म का यह रूप स्पष्ट होता है। वैदिक समय में धर्म का कर्मकांडीय पक्ष मुख्य था और आधार में शुद्धता पर बल देता था— 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'<sup>8</sup> काणे के अनुसार भी "ऋग्वेद में धर्म निश्चित नियम के रूप में है जो कि आचरण का नियम है।"<sup>9</sup> औपनिषदिक काल में धर्म का बाह्य पक्ष से आंतरिक पक्ष की ओर विकास हुआ। उपनिषद् में धर्म का तात्त्विक स्वरूप ऋत के विकास में हुआ। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि 'धर्म से उच्च कुछ भी नहीं, तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार 'ब्रह्म, ऋत व सत्य एक है।' महाभारत में धर्म शाश्वत है। आत्मा जो संकल्प करती है वही धर्म है। युधिष्ठिर ने धर्म की परिभाषा उस सामर्थ्य के रूप में की है जो कि सत्य को असत्य से अलग करती है तथा सत्य के मार्ग पर चलती है।<sup>10</sup> गीता में गुण पर आधारित धर्म का स्वरूप विकसित हुआ। स्वधर्म निष्काम कर्म की विचारधारा, गीता के धर्म की विशेषता थी। 'मनु धर्म को अपने व दूसरों के प्रति कर्तव्य पक्ष के अर्थ में लेते हैं। इस अर्थ में धर्म नियम, न्याय, सद्गुण, कर्तव्य, आंतरिक प्रकृति, नैतिकता व सामाजिक बाध्यता के अर्थ में प्रयुक्त है और उन परिणामों से भी संबंधित है जो उनसे प्राप्त होते हैं। इस अर्थ में धर्म व्यवहार व नैतिकता का नियम है।'<sup>11</sup>

**अर्थ** – मनीषियों ने जीवन के आंतरिक मूल्यों पर विशेष बल दिया है, लेकिन कहीं भी 'अर्थ' एवं 'काम' जैसे बाह्य मूल्यों को शरीर की तरह अविभाज्य माना है। जीवन की संपूर्ण अभिव्यक्ति का माध्यम अर्थ है। अतः यह एक सर्वमान्य मूल्य है। पुरुषार्थ में 'पुरुषस्य अर्थ' के रूप में पुरुष के स्वरूप निर्धारण के आधार पर अर्थ की व्यवस्था की गई है। अर्थ काम की भांति एक सार्वभौम भावना है व नैसर्गिक प्रवृत्ति है। पुरुषार्थ से मनुष्य के इस लोक और परलोक के समस्त प्रयोजनों की प्राप्ति होती है। यतः सर्वप्रयोजन-सिद्धिः स अर्थः।<sup>12</sup> महर्षि चाणक्य के अनुसार- 'अर्थार्थ प्रवर्तने लोक।' अर्थ का मतलब है अभिलषित वस्तु। अतः अर्थ को सभी प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिए उसका 'अर्थ' नाम भी सार्थक है- अर्थ्यते सर्वैः इति अर्थः। अर्थात् जिसको प्राप्त करने की अभिलाषा सब करते हैं उसको अर्थ कहते हैं। धर्म ही समस्त सुख-समृद्धि का मूल है। धर्म का मूल होता है- अर्थ। सुखस्य मूलं धर्मः॥ धर्मस्य मूलम् अर्थः।<sup>13</sup> इसलिए महर्षि कौटिल्य ने त्रिवर्ग में 'अर्थ' को ही प्रधान मानकर उसे धर्म और काम का मूल बताया है। 'अर्थ एवं प्रधानः इति कौटिल्यः। अर्थमूलौ धर्मकामौ।'<sup>14</sup> कठोपनिषद् उनसभी वस्तुओं को इस 'मूल्य' के अन्तर्गत समाहित मानता है जिनकी अनुभूति हम इन्द्रियों द्वारा कर सकते हैं।<sup>15</sup>

इससे प्राणियों की आजीविका का निर्वाह होता है। अतः अर्थ पर ही सबका जीवन निर्भर है। अर्थ का मूल है- वृत्ति, अर्थात् आजीविका। अर्थ पर ही धर्म और काम निर्भर है।<sup>16</sup> इसलिए महर्षि वात्स्यायन ने अर्थ की बड़ी व्यापक परिभाषा की है। उन्होंने कहा है कि- 'विद्या-भूमि-हिरण्य-पशु-धना धान्य-भाण्डोपस्कर-मित्रादीनाम् अर्जनम्, अर्जितस्य च विवर्धनम्-अर्थः।

विद्या शौर्यं च दाक्षिण्यं च बलं धैर्यं च पंचमम्।

मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्ति हितैर्बुधाः॥<sup>17</sup>

अर्थ का मूल है वार्ता। महाभारत में वर्णन आता है कि-

कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते ।

कृषि-वाणिज्य-गोरक्ष्यं शिल्पानि विविधानि च ।<sup>18</sup>

अर्थशास्त्र का मत है कि इस शब्द का मुख्य अर्थ 'पृथिवी' है। महर्षि कौटिल्य ने कहा है- 'मनुष्याणां वृत्ति अर्थः । मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः ।'<sup>19</sup>

शुक्राचार्य ने कहा है '

'खनिः सर्वजनस्येयं देव दैत्य-विमर्दिनी ।

भूम्यर्थे भूमिपतयः स्वात्मानं नाशयन्त्यपि ॥

उपभोगाय च धनं जीवितं येन रक्षितम् ।

न क्षिता तु भयेन किं तस्य धनजीवितैः ।<sup>20</sup>

शास्त्रों के अन्त में भी अर्थ कहा गया है- 'न हि धान्यसमो अर्थः' ।<sup>21</sup> वेद इस विषय में कहा है- 'अन्न को बढ़ाना चाहिए ।' 'अन्नं बहुकुर्वीत ।'<sup>22</sup>

अन्न का साधन कृषि है। इसलिए कृषि शास्त्र के मर्मज्ञ महर्षि पराशर ने कहा है कि -

कृषावुत्पाद्य धान्यानि खलयज्ञं समाव्य च ।

सर्वसत्त्वहिते युक्तं इहामुत्र सुखी भवेत् ।

कृषरेन्यत्र नो धर्मो न लाभः कृषितोऽन्यतः ।

सुखं न चृषितोऽन्यत्र यदि धर्मेण वर्तते ॥<sup>23</sup>

धन शब्द की व्युत्पत्ति है -

धिनोति, इति, धनम् ।

धनं कस्यात्? 'धिनोतीति यतः ।'

अथवा

## इधानि इति धनम्

वित्त शब्द का अर्थ है—

विवते त्यत्यते इति वित्तम्।

अर्थ के महत्त्व के विषय में महर्षि नारद ने कहा है—

अर्थमूलाः क्रियाः सर्वा यत्नस्तस्यार्जने मतः।<sup>24</sup>

महर्षि शुक्राचार्य ने लिखा है —

निर्धनस्त्यज्यते भार्यापुत्राद्यैः सगुणोऽप्यतः।

संस्कृतौ व्यवहाराय सारभूतं धनं स्मृतम्।

अतो यतेत ततप्राप्तयै नरः सूपायसाहसैः।<sup>25</sup>

गाँधी जी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त भी इसी पर आधारित है। “अधिक धन मानवता की सेवा के लिए होना चाहिए, स्वयं के लिए नहीं। अर्थ के साधन मूल्य से तात्पर्य है कि वह दूसरों के दान के लिए है। किसी को भी आवश्यकता से अधिक धन नहीं कमाना चाहिए।<sup>26</sup> साथ ही शुद्ध धर्म का अर्थ है न्यायपूर्वक अर्जित धन। शुद्ध धन व्यक्ति व समाज की उन्नति का आधार है। अर्थ के पवित्र होने से ही मनुष्य के मन, बुद्धि शरीर और इन्द्रिय तथा उसके प्रत्येक विषयों में पवित्रता आती है।<sup>27</sup> इसी से महर्षि शुक्राचार्य ने न्याय से अर्थोपार्जन पर जोर दिया है — “न स्यात् स्वधर्महानिस्तु यथा वृत्याहि च सा वरा”<sup>28</sup> अतः पुरुषार्थ व्यवस्था में ‘अर्थ’ पर आधारित योजना है, जिसमें वातावरण, परिस्थिति सारे पक्ष सम्मिलित है।

**काम** — काम ही सारे संसार का बीज है। ऋग्वेद में कहा गया है— “कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथम यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरभिन्दन् हृदा प्रतीच्या कवयोमनीषा।।”<sup>29</sup>

संकल्प की दृष्टि से यह ब्रह्मा के निष्काम हृदय में भी सृष्टि के पहले से ही विद्यमान थी। 'एकोऽहं बहुस्याम्' की इच्छा के सृजनकर्ता काम का ही द्योतक है। मनुस्मृति के अनुसार ही धर्म, अर्थ एवं मोक्ष पुरुषार्थ का आधार भी काम है। "अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तकामस्य चेष्टितम्।।<sup>30</sup> सर्वोच्च स्तर पर धर्मानुसार काम ही काम्य है। "त्रिवर्ग में इस प्रकार इष्टरूप के जिस काम की गणना की गई है वह सामान्य न होकर सम्यक् काम है। यह सम्यक् काम धर्मानुसार मर्यादित है और धर्म की ही तरह इस लोक में अत्युदय और परलोक में निःश्रेयस प्रदान करने वाला है।<sup>31</sup> काम एकाकी न होकर धर्म व अर्थ द्वारा अभिव्यक्त होता है व परम पूर्णता तक ले जाता है। इस प्रकार व्यक्ति के सभी कार्य काम से प्रेरित है। इस जगत में कामनारहित पुरुष की कोई भी क्रिया किसी भी समय दिखाई नहीं देती है सामान्यतः काम शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—एक अर्थ नितान्त संकुचित है तो दूसरा व्यापक संदर्भ से जुड़ा है। संकुचित अर्थ में काम से तात्पर्य मात्र वासना, इन्द्रिय सुख एवं यौन प्रवृत्तियों की संतुष्टि से होता है। व्यापक संदर्भ में काम के अन्तर्गत समस्त मानवीय प्रवृत्तियों, इच्छाओं तथा कामनाओं को समाविष्ट मानते हैं। व्युत्पत्तिक दृष्टि से काम का स्वरूप परिभाषया निम्न रूपों में वर्णित किया गया है—“कामितं कामः, इस व्युत्पत्ति से काम एक मानसिक संकल्प या इच्छा है जो व्यक्तियों को सुख और सुखोपभोग की वस्तुओं की ओर प्रेरित करता है।” संसार की सभी इच्छाएँ इसके अंतर्गत आती हैं। “काम्यते इति कामः इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषय व पांचों इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला मानसिक सुख ही मुख्यतः काम कहलाता है।<sup>32</sup> सभी संकल्पित वस्तु जो काम के साधन हैं, उन्हें काम कहते हैं।

आंख, कान, नासिका, रसना और त्वचा— इन पांच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अपने प्रधान उद्देश्य को सम्पन्न करते समय रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन पांच



विषयों के सम्पर्क से मिलने वाले मानसिक आनन्द को ही काम कहते हैं। यह काम प्राणियों को पुण्य कर्मों का उत्तमफल है—

इन्द्रियाणां च पंचानां मनसो हृदयस्य च ।

विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते ।

स काम इति में बुद्धि कर्मणा फलमुत्तमम् ।।<sup>33</sup>

यह काम चित्त का एक संकल्प माना गया है। इसका स्वरूप अत्यन्त ही सूक्ष्म है। अतएव यह केवल अनुभवगम्य है। इसलिए महभारत के वनपर्व में कहा है कि—

द्रवयार्थस्पर्शसंयोगे या प्रीतिरुपजायते ।

स कामश्चित्रसंकल्पः शरीरं नास्य दृश्यते ।।<sup>34</sup>

स्रक्, चन्दन, वनिता आदि प्रिय पदार्थों के स्पर्श और सुवर्णादि धन का संयोग होने पर मन में जो एक विशेष प्रीति उत्पन्न होती है वह चित्त का संकल्प ही काम है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है। उसका रूप आकार दिखलायी नहीं पड़ता। श्रुति में कहा है—

एतस्यैवानन्दस्य अत्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।

उदाहण के तौर पर दही का सार मक्खन है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ का सार 'काम' है। जैसे खली से श्रेष्ठ तेल है, तक्र से श्रेष्ठ घृत है और वृक्ष के काष्ठ से श्रेष्ठ उसका फूल और फल है उसी प्रकार धर्म और अर्थ से श्रेष्ठ काम है—

नवनीतं यथा दध्यनस्तथा कामोऽर्थधर्मतः ।

श्रेयस्तैलं हि पिण्याकाद् घृतं श्रेय उद्शिवतः ।।<sup>35</sup>

इस रीति से इन्द्रियों का अन्तःकरण में प्राप्त होने वाले विषय सुखोपभोग आनन्द को ही काम कहते हैं। वात्स्यायन ने यह सिद्ध कर दिया है कि धर्मानुकूल संयमित काल मोक्ष में सहायक होता है।

संदर्भ :-

1. वायु पुराण 57 / 58
2. सांख्यकारिका
3. मीमांसा सू. 1-2
4. तैत्तिरीय आरण्यक
5. चा.सू. 1 अ,
6. चाणक्य सूत्र - 1, अध्याय - 1.
7. महापुराण 2 पर्व 27.
8. डॉ० सुरेन्द्र वर्मा: भारतीय जीवन मूल्य, पृ० 52.
9. काणे, "धर्मशास्त्र का इतिहास— प्रथम खण्ड, पृ. 166.
10. धर्म प्रकरण जनरल, पृ. 3.
11. डॉ० सुधा भटनागर, पुरुषार्थ-चतुष्टय : दार्शनिक अनुशीलन, पृ० 90.
12. नीतिवा० अर्थसमुद्देश.
13. चा.सू. 1.1.2.
14. कौ० अर्थशास्त्र
15. महाभारत नारायण स्वामी क० 30-3-1.
16. चाणक्य सूत्र 1-89, 90.
17. शुक्रनीति 4-13
18. शान्ति पर्व -167-11.
19. कौ० अर्थशास्त्र 15-1.
20. शुक्रनीति 1-78,79.
21. चाणक्य सूत्र 4-83.
22. तैत्तिरीयोपनिषद् 2.9.1.

23. परासर स्मृति-5, अ० 184, 185.
24. नारदस्मृति
25. शुक्रनीति 3.176.
26. नारायण पंडित संग्रहित, हितोपदेश, पृ. 115.
27. डॉ० सुधा भटनागर, पुरुषार्थ-चतुष्टय : दार्शनिक अनुशीलन, पृ. 113.
28. शुक्रनीति 2-63, पृ.65, पं. ब्रह्म शंकर मिश्र।
29. ऋग्वेद 10-129-4.
30. पं० श्री हरगोविन्द शास्त्री, मनुस्मृति 2-4, पृ० 35.
31. डॉ० सुधा भटनागर, पुरुषार्थ-चतुष्टय : दार्शनिक अनुशीलन, पृ. 158.
32. बृहदारण्यकोपनिषद् 1-4-3, पृ. 78.
33. महाभारत, वनपर्व.
34. वनपर्व, 33-3.
35. उ.प्र. प्रजापर्व, 37-35.

डॉ० रंजन कुमार पाण्डेय  
सी-20 / 14, नई पोखरी, सिगरा  
वाराणसी-221010